Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 GISRRJ | Volume 5 | Issue 6 | ISSN : 2582-0095

पाणिनीय व्याकरण की लोकरञ्जकता

डा. सत्यप्रिय आर्य
सहायक प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू, जम्मू-कश्मीर ।

Article Info
Volume 5, Issue 6
Page Number : 14-25
Publication Issue :
November-December-2022
Article History
Accepted : 01 Nov 2022
Published : 06 Nov 2022

सारांश- आचार्य पाणिनि द्वारा प्रणीत अष्टाध्यायी एवं उस पर उपलब्ध महाभाष्य एवं काशिका आदि प्रमुख सभी व्याकरण के व्याख्यान ग्रन्थों में लोक प्रामाण्य को अत्यधिक महत्व दिया गया है। आचार्यों का स्पष्ट मत है जो सिद्धान्त, विचार अथवा व्यवहार लोक के द्वारा पुष्ट या प्रमाणित नहीं हैं, उनका अस्तित्व समाज में बहुत अधिक समय तक नहीं रहता। इसीलिये महाभाष्यकार आदि सभी वैयाकरण किसी शास्त्रीय समस्या का समाधान करते हुये तब तक पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं होते जब तक कोई लौकिक उदाहारण न प्रस्तुत कर लें। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। आचार्य के इसी लोक आकर्षण को स्पष्ट करने का एक विनम्र प्रयास इस पत्र के माध्यम से किया जा रहा है।

बीज शब्द: अन्वर्थविज्ञान, लोक-प्रामाण्य, भाष्य, वार्तिक, अपवाद, उत्सर्ग, शिष्ट- प्रमाण, न्याय।

आचार्य पाणिनि अपनी अद्भुत प्रतिभा, सूक्ष्मेक्षिका व अनल्पमतित्व[1] के प्रभाव से हजारों पृष्ठों में भी न सिमटने वाले ग्रन्थ को सूत्र शैली द्वारा कुछ ही पृष्ठों में आश्चर्य जनक रूप में अष्टाध्यायी ग्रन्थ नाम्ना स्व रचना में संवलित कर देते हैं, जिसका वास्तविक रहस्य व आशय तन्त्रवार्तिककार आचार्य कुछ यूं स्पष्ट करते हैं-

सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्[2]।।

वृत्ति, भाष्य व अन्य सभी व्याख्यान ग्रन्थों में वर्णित तथ्य व सिद्धान्त, सब कुछ इन पाणिनीय सूत्रों में ही विद्यमान हैं। स्पष्टत: समस्त कथ्यों के मूल सूत्र ही हैं। संभवत: इसी वैशिष्ट्य के कारण व्याकरण में नीरसता, दुरूहता अथ च शुष्कविषयता आदि का अनुभव भी कदाचित् अनेक अध्येता करते हैं। प्रकृत नीरसता व दुरूहता से अपने व्याकरणशास्त्र को मुक्त करते हुये कण्ठरवेण आचार्य ने घोषणा की- **यथा लोके तथा व्याकरणे[3]।** अर्थात् जैसे व्यवहार, नियम वा व्यवस्था लोक में प्रवृत्त होती हैं, वैसे ही व्यवहार व्याकरणशास्त्र में भी होते हैं। लौकिक व्यवहारों के सर्वसुगम, सहजबोध्य, सरल, स्वाभाविक व आत्मीय होने के कारण व्याकरणाध्ययन के प्रति साधारण अध्येता आकर्षित हुआ व सानन्द, सोत्साह कह उठा- **पाणिने: सूत्रकारस्य[4], आकुमारं यश: पाणिने:[5], इति पाणिनि[6]** आदि उपर्युक्त वाक्यों से साधारण जनता जनता के आचार्य पाणिनि के प्रति अभूतपूर्व सम्मान, असीम प्रेम तथा अत्यधिक आकर्षण के भाव सहजतया ही अभिव्यक्त होते हैं।

---

1 महा॰ भा॰ सूत्र सं. 1/4/51- एतदनल्पमते: आचार्यस्य वचनं स्मर्यताम्।
2 तन्त्रवर्तिक, 2/3/11
3 वृद्धिरादैच्, पा. अ. 1/1/1
4 महा. 2/2/11
5 महा॰ 1/4/89

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

आचार्य पाणिनि सूत्रकार होने के कारण अन्वर्थविज्ञानतया लौकिक व्यवहारों को अत्यन्त गूढ, सूक्ष्म व सांकेतिक शैली में प्रस्तुत करते हैं। जिसका उल्लेख भाष्यकार कुछ यूं करते हैं– **इह इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धनेन आचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते**[7]। इन गूढ रहस्यों का उद्घाटन यथावसर, यथास्थान वार्तिकार, भाष्यकार व अन्यान्य व्याख्याकारों ने यथोचित रूपेण किया है। यथा– **परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये**[8], **संहितावसानयोर्लोकविज्ञानात् सिद्धम्**[9], **लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य**[10], **अवचनात् लोकविज्ञानात् सिद्धम्**[11], **इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके**[12], **लोकवद् हलादिशेषे**[13] आदि।

वस्तुत: क्रान्तदर्शी भाष्यकार आदि सभी वैयाकरणों को यह स्पष्ट बोध हो गया था कि व्याकरणशास्त्र को यदि लोकप्रिय, प्रचलित, जनसाधारण के लिए रुचिकर, स्थायी व दीर्घकाल पर्यन्त प्रासंगिक बनाना है तो इसको लोक में प्रचलित व्यवहारों व नियमों से जोड़ देना ही एकमात्र उपाय है। क्योंकि मात्र शुष्क सूत्र व तर्कों को प्रस्तुत कर व्याकरणशास्त्र को दीर्घस्थायी नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार लोकव्यवहारों से व्याकरण शास्त्रीय सिद्धान्तों के परीक्षण, विवेचन व निदर्शन की परम्परा चली, जो न केवल विषय के स्पष्टीकरण में उपयोगी रही अपितु लौकिक जन सामान्य के हृदय में स्थान प्राप्त करने में भी सफल रही, इसके फलस्वरूप व्याकरण के दुरूह व कठिन सिद्धान्तों को भी इतने सरल, सहज व सुरुचिपूर्ण शैली में उपस्थापित किया गया कि अबुध वा मन्दबुद्धियों की भी व्याकरणाध्ययनाध्यापन में सहसा रुचि उत्पन्न हुई। परिणामत: संस्कृतभाषा और भी सुरुचिपूर्ण व लोकप्रिय हुई परिणाम स्वरूप अश्वघोष आदि अनेक बौद्ध मतानुयायी आचार्य भी प्राकृत व पालि आदि भाषाओं को छोड संस्कृत की तरफ आकर्षित हुए।

आचार्य पाणिनि इसी लोक प्रेम के कारण चरण, परिषद् छन्द या ब्राह्मणों की विस्तृत शब्द परम्परा का त्याग कर आचार्य, शिष्य, ब्रह्मचारी, छात्र, नृप, सचिव, बनिया, व्यापारी, ग्वाला, रंगरेज, भिक्षु इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों से स्वशास्त्र में शब्द संग्रहण में प्रवृत्त हुए।

आचार्य पाणिनि को प्रारम्भ से ही यह सहज एवं सतत बोध था कि स्वशास्त्र को सर्वत्र प्रसृत करने के लिए लोक और शास्त्र में परस्पर समन्वय व सामंजस्य स्थापित करना अत्यावश्यक है। यतोहि लोक में स्वीकृत या प्रचलित वस्तु या विचार ही इस नश्वर संसार में स्थायित्व व अमरता प्राप्त कर सकते हैं। लोक में अस्वीकृत वस्तु या विचार मात्र शब्दरूप या नाद रूप में ही अस्तित्व में रहते हैं, वास्तविक रूप में नहीं। इसी भाव को आचार्य भाष्यकार ने कुछ यूं प्रकट किया है– **यो हि उत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्यते**[14] अर्थात् सूत्रविरुद्ध तथ्य तो मात्र शब्दरूप में ही गृहीत होता है न कि वास्तविक रूप में।

---

6 महा॰ 2/1/6

7 महा॰ 8/2/3

8 महा॰ 3/2/111

9 महा॰ 1/4/110

10 महा॰ 4/1/3

11 महा॰ 1/1/21

12 महा॰ 1/1/1

13 महा॰ 6/1/2

14 महा॰, पस्पशाह्निक, पृष्ठ 12

पाणिनीय व्याकरण अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण कालजयी होकर आज भी जीवित, प्रचलित व सम्मानित है, जब की काशकृत्स्नादि इससे पूर्ववर्त्ती और चान्द्रादि परवर्त्ती दोनों ही अकाल ही कालकवलित हो, आज कथा मात्र शेषत्व को प्राप्त हो चुके हैं। आचार्य ने शब्द–सरंचना–प्रक्रिया को संचालित करते हुए सूत्रों को लघु व सुन्दर रूपों में प्रस्तुत किया। अनेक सन्दर्भों में एक ही लक्ष्य या प्रयोग में कई बार अनेक विधिसूत्रों के एक साथ प्रवृत्त हो जाने की स्थिति में अनेक लौकिक न्यायों, तर्कों व युक्तियों से उनका समाधान करते हैं, जो समाधान ही कालान्तर में कदाचित् **परिभाषा**[15] सूत्रों के रूप में स्थापित हुए। इस प्रकार लोक के विविध आयामों से संयुक्त होने के कारण ही **महत् सुविहित पाणिनीय व्याकरण**[16] के विषय में महाभारतकार ने कहा–

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः[17]**।।**

तात्कालिक व लोकप्रचलित भाषा के नियम तथा उसमें प्रचलित सारे या अधिकतम सम्भव अर्थों का व्याकरण या प्रकाशन ही किसी भी वैयाकरण का निकष होता है, जिससे उस ग्रंथ के सार्थक्य अथवा नैरर्थक्य की परीक्षा होती है। पाणिनीय व्याकरण के इसी लोक सम्बन्ध के कारण एवं पाणिनि के आशय को और भी अधिक स्पष्ट करने के कारण ही भाष्यकार के लिये **बहुश्रुत, बहुदर्शी**[18] व **अधिक-लक्ष्य-दर्शी**[19] आदि विशेषणों का प्रयोग आरम्भ हुआ व ध्वनि मत व कण्ठरवेण **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**[20] उद्घोष किया गया। वास्तविक रूप में **शिष्यादिच्छेत् पराजयम्** आभाणक का इससे अच्छा अनुवाद और क्या हो सकता था? भाष्यकार की दृष्टि में सामान्यतः व्याकरणशास्त्र का कोई भी सिद्धान्त तब तक पूर्णरूपेण मान्य या सिद्धान्तरूपेण स्वीकृत नहीं हो सकता, जब तक उस सिद्धान्त का लोक–प्रामाण्य सुपरीक्षित ना हो जाए[21], इसलिए यह प्रायः देखा जाता है कि भाष्यकार किसी समस्या का शास्त्रीय समाधान देकर भी मानो अपरितुष्ट ही दिखाई देते हैं और किसी ना किसी व्याज से अन्य अलौकिक समाधान भी अवश्य प्रस्तुत करते हैं[22]। आचार्य का यह स्पष्ट मत है कि कोई अध्येता शास्त्रीय युक्तियों को तो अनदेखा कर भी सकता है, पर लौकिक व्यवहार या उदाहरण को अनदेखा करना कठिनतर कार्य होता है।

भाष्यकार के अनुसार लक्ष्य या प्रयोग में सूत्र की प्राप्ति जानने वाले की अपेक्षा लोक में इष्ट प्रयोग को जानने वाला व्यक्ति अधिक श्रेयस्कर होता है। वैयाकरणरथिसूतसंवाद में इष्टिज्ञ (लक्ष्यैकचक्षुष्क) की अपेक्षा प्राप्तिज्ञ (लक्षणैकचक्षुष्क)

---

15 परिभाषायें वाचनिक, ज्ञापकसिद्ध, न्यायसिद्ध (लोक) आदि त्रिविध रूपों में वर्णित हैं– परिभाषेन्दु–शेखर, पृष्ठ–10 (प्राचीनव्याकरणतन्त्रे वाचनिकानि, अत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषा–रूपाणि, तानि व्याख्यायन्ते)

16 महा॰ सूत्र॰ सं. 4/3/66, पाणिनीयं महत् सुविहितम्।

17 महाभारत, उद्योगपर्व, 43/36

18 महा॰ 1/3/15, अशब्दहासे भवति नवेति बहुदर्शिनो विचारयन्तु।

19 महा॰ 2/4/26, मुनिद्वयाच्च भाष्यकारः प्रमाणतरम्, अधिकलक्ष्यदर्शित्वात्।

20 वै॰ सि॰ कौमुदी, सू. सं. 222

21 महा॰ सू॰ सं. 1/2/64, रूपनिर्ग्रहश्च नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम्। महा॰ सू॰ सं. 7/1/33, शब्दं प्रयुयुक्षमाणेन लोकस्यानुसरणात्।

22 महा॰ सू॰ सं. 1/1/5, अनेकपरिहारोपन्यासो न्यायव्युत्पादनार्थः।

को श्रेष्ठ माना गया है, हीनता की ऐसी पराकाष्ठा कि प्राप्तिज्ञ को **देवानाम्प्रिय:**[23] विशेषण से संबोधित किया गया। इष्टि और अनिष्टि को भाष्यकार अभिधान एवं अनभिधान नामों से भी संबोधित करते हैं। संपूर्ण व्याकरणिक सूत्रव्याख्या अनुकूल होने पर भी लोक में अथवा शिष्टों में अभिधान या प्रयोग न होने पर उन शब्दों की निष्पत्ति या व्युत्पत्ति व्याकरण–शास्त्र में नहीं की जाती। यथा वृक्षमूल शब्द से **तत: आगत:**[24] सूत्र से **वृक्षमूलादागत:** इस अर्थ में अण् प्रत्यय कर **वार्क्षमूल:** शब्द की सिद्धि सहजरूपेण ही की जा सकती है। इसमें कोई शास्त्रीय बाधा नहीं, पुनरपि इस शब्द का लोक में प्रयोग न होने के कारण यह शब्द सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यदि लोक में किसी शब्द का अभिधान या प्रयोग नहीं है, तो उस शब्द में अभीष्ट अर्थबोध की शक्ति की उत्पत्ति, व्याकरण के अनेक सूत्र मिलकर भी कदापि नहीं कर सकते। भाष्यकार कहते हैं– **न हि स्वतोऽसती शक्तिराचार्येण कर्तुं शक्यते**[25]। अथ च **अन्यथाऽविद्यमानाया: शक्तेरेकशेषशास्त्र-सहस्रेणापि उपपादयितुमशक्यतया बोधानुपपत्तिरेव स्यात्**[26]**।** अर्थात् जिस शब्द में स्वबोधन–शक्ति नहीं उसमें हजारों सूत्र, शास्त्र या शब्द मिलकर भी बोध–शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकते।

इस प्रकार लोक–प्रामाण्य ही शास्त्र की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक व पुष्ट सिद्ध होता है। इस अभिधान अनभिधान चर्चा से लोक व शास्त्र का अटूट संबंध भी प्रकाशित होता है, साथ ही साथ यह भी सुप्रमाणित हो जाता है कि उस समय संस्कृत भाषा सर्वसुगम, सामान्य व्यवहार या बोलचाल की भाषा थी, क्योंकि यदि सामान्य व्यवहार में यह भाषा ना होती तो शब्दों के अभिधान अनभिधान का परीक्षण कैसे संभव होता? और तो और **विवक्षात: कारकाणि भवन्ति**[27] अथवा **संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयो:। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते**[28]**।** आदि स्पष्ट कथन भी प्रकृत सिद्धान्त को ही पुष्ट करते हैं। जिससे व्याकरण शास्त्र के क्षेत्र में लोक व्यवहार या लोकप्रामाण्य की ही पुष्टि होती है।

कैयट भी प्रकृत विषय में कहते हैं– **प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात्**[29] व **लक्ष्यपरतन्त्रत्वात् लक्षणस्य**[30] अर्थात् व्याकरण शास्त्र में लोकप्रचलित शब्दों का ही अन्वाख्यान मात्र किया जाता है, न कि नये नये शब्दों का निर्माण, क्योंकि पहले शब्द या लोक है, पश्चात् व्याकरण है। सभी लक्षण=शास्त्र व व्याकरण लक्ष्य के ही अधीन हैं, लक्ष्य स्वतंत्र हैं, लक्षण परतंत्र। इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि का विभिन्न प्रसंगों में पुन: पुन: **बहुलम्**[31] या **दृश्यते**[32] आदि शब्दों का प्रयोग करना भी आचार्य के लोक आकर्षण को ही प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार के विषय में एक अन्य स्थान पर भाष्यकार कहते हैं– **स**

---

23 महा॰ सू॰ सं. 2/4/56, प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञ:।

24 पा.अ. 4.3.74

25 महा॰ सू॰ सं. 1/2/64

26 लघुशब्द रत्न, सू. 188

27 महा॰ सू॰ सं. 1/2/66–67

28 वै. सि. कौ. सू. 2232

29 महा॰ सू॰ सं. 1/1/24

30 महा॰ सू॰ सं. 5/1/80

31 कृत्यल्युटो बहुलम्, पा. अ. 3.3.113

32 अन्येष्वपि दृश्यते, पा. अ. 3.2.101

चावश्यं शिष्टप्रयोग उपास्य:[33]**,तेनानेकार्थाभिधाने यत्नं कुर्वतावश्यं लोक: पृष्ठतोऽनुगन्तव्य:, केष्वर्थेषु लौकिका: कान् शब्दान् प्रयुञ्जते इति लोकोऽयं शब्देषु प्रमाणम्**[34] अर्थात् व्याकरण को अवश्य ही लोक की अथवा शिष्ट प्रयोग की उपासना करनी चाहिए और तो और अर्थाभिधान के लिए प्रयत्न करते हुए अवश्य ही लोकानुवर्त्ती भी होना चाहिए या लोक के पीछे पीछे चलना चाहिए। क्योंकि किन अर्थों में किन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में लोक ही प्रमाण है।

यहां शिष्टप्रमाण चर्चा के प्रसंग में भाष्यकार स्वयं ही शिष्ट शब्द ही व्याख्या करते हुए कहते हैं- **के पुन: शिष्टा:? एतस्मिन् आर्यावर्त्ते ये ब्राह्मणा: कुम्भीधान्या:, अलोलुपा, अगृह्यमाणकारणा: किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्याया: पारगास्तत्रभवन्त: शिष्टा:**[35]। अर्थात् शिष्ट कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार स्वयं देते हुए कहते हैं कि इस आर्यावर्त्त में जो कुम्भीपाकधान्य, अलोलुप व किसी विद्या विशेष में पारंगत ब्राह्मण ही शिष्ट हैं।

इसके अतिरिक्त **शक्तिग्रह**[36] के जो व्याकरण, उपमान आदि आठ साधन बताये गये हैं, उनमें भी नागेश की दृष्टि में लोकव्यवहार ही प्रधानभूत कारण है। **युक्तं हि एतत् शक्तिग्रहं.....इत्येतेषु शक्तिग्राहकशिरोमर्णिव्यवहारो व्यक्तावेव शक्तिं ग्राहयति, गवादिपदेन व्यक्तेरेव बोधात्**[37]**।** अर्थात् इन आठों उपायों में लोकव्यवहार ही शिरोमणिभूत है, अन्य सभी साधन इसी के अनुगामी हैं। इस विषय में एक और तर्क प्रायश: प्रस्तुत किया जाता है, उससे भी लोक का महत्त्व ही प्रमुख- रूपेण प्रख्यापित होता है। यथा भाष्यकार कहते हैं- **अन्यत्रापि हि नियतविषया: शब्दा दृश्यन्ते, तद्यथा समाने रक्ते वर्णे गौर्लोहित इति भवत्यश्व: शोण इति। समाने च काले वर्णे गौ: कृष्ण इति भवत्यश्वो हेम इति। समाने च शुक्ले वर्णे गौ: श्वेत इति भवत्यश्व: कर्क इति**[38]**।** शब्द अनेकत्र नियतविषय वाले होते है और यह नियतविषयत्व लोकाधीन ही है, यथा शोण एवं लोहित, दोनों शब्दों का अर्थ लाल होने पर भी बैल के लिए हेम शब्द का प्रयोग होता है। वैसे ही श्वेत एवं कर्क दोनों शब्दों का अर्थ सफेद होने पर भी बैल के लिए श्वेत और अश्व के लिए कर्क शब्द का प्रयोग होता है। इन शब्दों के सामान्य रूप से समानार्थक होने पर भी भिन्न भिन्न अर्थों में रूढ हो जाना शास्त्र की अपेक्षा लोक को ही अधिक बलवत्तर सिद्ध करता है। वैसे भी अनेकविध अन्यान्य प्रमाणों की अपेक्षा लोकप्रमाण ही अधिक सुगम व शीघ्र प्रभावकारी होता है। इसी अलौकिक लोक शक्ति को वैयाकरणों ने पहचाना व स्वशास्त्रों में पदे पदे उसका समुचित प्रयोग भी किया। इस विषय में भाष्यकार कहते हैं- **ते खल्वपि विधय: सुपरिगृहीता भवन्ति, येषु खलु लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति**[39]**।** वे विधियां या प्रक्रियायें ही सुगमतया गृहीत होती हैं, जिनमें सामान्य लक्षण के साथ साथ विशेष प्रकार के प्रपञ्च अर्थात् विविध प्रकार के व्याख्यान होते हैं। जहां केवल सूत्र हो या केवल प्रपञ्च हो, वे विधियां अधिक प्रभावकारी या लाभकारी नहीं होती। इस प्रसंग की प्रदीपोद्योतकार व्याख्या करते हुए कहते हैं- **केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धिर्विषयविभागं**

---

33 महा॰ सू॰ सं. 1/3/1

34 महा॰ सू॰ सं. 1/2/64

35 प. ल. म. पृ. 382

36 महा॰ सू॰ सं. 6/3/109

37 शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशप्तवाक्यादव्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सानिध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा:।।

38 प. ल. म. पृ. 382

39 महा॰ सू॰ सं. 1/2/68

नावधारयति, केवलेन प्रपञ्च वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवत् शास्त्रस्य गौरवप्रसंग:[40]। अर्थात् मात्र लक्षण या सूत्र से सामान्यस्तर के शिक्षार्थियों को विषय स्पष्ट न हो सकेगा, इसके विपरीत सूत्र की व्याख्याओं को अतिविस्तृत कर देने पर शास्त्र–गौरव का भी भय बना रहेगा। इस प्रकार दोनों ही स्थानों पर लक्षण एवं प्रपञ्च में एक संतुलित मापदंड स्थापित करना अति आवश्यक है, ऐसा पक्ष ही सिद्धान्तत: स्वीकार्य एवं ग्राह्य है।

महर्षि पतंजलि एक स्थान पर लक्षण की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– **लक्षणं हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहूर्तमपि नावतिष्ठते**[41]**।** अर्थात् उत्तम लक्षण या सूत्र वही होता है, जो सर्वत्र भ्रमणशील प्रकाशित, व्यक्त एवं क्षण भर भी ना रुकने वाला हो। आचार्य यहां लक्षण के लोकस्पृष्टत्व एवं लोकस्वीकार्यता को प्रमुख स्वीकार करके ही ऐसी उद्घोषणा कर रहे हैं, क्योंकि ध्वनित होना, प्रकाशित होना एवं क्षणभर भी न रुकना आदि व्यवहार तो लोकाश्रित ही हैं। इसी विषय का स्पष्टीकरण एक अन्य स्थान पर वर्णित आचार्यों के निम्न वाक्य से भी होता है – **न हीदं (व्याकरणं) लोकाद् भिद्यते। यदीदं लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्**[42]। अर्थात् यह व्याकरण शास्त्र कदापि लोक व्यवहारों के प्रतिकूल नहीं जाता, यदि कदाचित् कोई सूत्र या सूत्रांश लोक व्यवहारों के विपरीत जाता भी है, तो उसे व्याख्यायित कर पुन: लोकव्यवहार, शास्त्रीय अथ च ग्राह्य बनाने के लिए अत्यधिक परिश्रम करना, निश्चय ही गौरव का कारण बनेगा।

समस्त वैयाकरणों, तत्रापि मुख्यतया महर्षि पतंजलि का दृढ एवं स्पष्ट मत है कि व्याकरण शास्त्रीय शतश: प्रमुख सिद्धान्तों का प्रकाशन, अवबोधन व प्रवचन लौकिक न्यायों , व्यवहारों, लोकोक्तियों, मुहावरों व लोकाश्रित प्रमाणों से जितनी सहजता, सरलता, स्वाभाविकता व अल्प प्रयास से किया जा सकता है, उतना शायद किसी अन्य प्रकार से कदापि संभव नहीं। यथा **अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ताम्**[43] यह शास्त्रीय नियम **तक्रकौण्डिन्य न्याय**, **कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते**[44], **माठरकौण्डिन्य न्याय,** अधिकार सूत्रों के प्रसंग में **मण्डूक-गति**, **गंगाप्रवाह, गोयूथ न्याय, सिंहावलोकन न्याय**, आचार्य पाणिनि के द्वारा किसी सूत्र का खण्डन कर, सूत्र बनाया ही क्यों? ऐसा पूछने पर **न हि भिक्षुका: सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते**, **न हि मृगा: सन्तीति यवा: नोप्यन्ते**[45]। भावी नामकरणों के लिए भाविसंज्ञाविज्ञान न्याय, कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा कहावत के लिए **नष्टाश्वदग्धरथ न्याय, एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति**[46] – **छिन्नपुच्छकर्णाश्व न्याय**, अतिदेश सूत्रों के प्रसंग में **गुरुवद्गुरुपुत्र न्याय**, इसी प्रकार **अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते**[47] **अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते**[48] सिद्धान्त **आयुर्घृतम्**[49] **, दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वर:** [50] । **सहचरितासहचरितयो: सहचरितस्यैव ग्रहणम्**[51] – गवाश्वगर्दभ न्याय,

40 महा॰ सू॰ सं. 2/1/58 (उद्योत–प्रदीप)
41 महा॰ सू॰ सं. 1/1/3
42 महा॰ सू॰ सं. 1/1/1
43 महा॰ सू॰ सं. 7/1/4
44 शब्द. कौ. 1.1.6
45 पा. अ. 7.1.23
46 महा॰ सू॰ सं. 1/1/56
47 महा॰ सू॰ सं. 1/1/59
48 महा॰ सू॰ सं. 1/1/23
49 महा॰ सू॰ सं. 1/1/59

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृहयते[52]-देवदत्तास्थगर्भ न्याय । **प्राग्रीश्वरान्निपाता:**[53] के प्रसंग में **आ वनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्**[54] आदि शतश: दुरूह, जटिल व द्रविड प्राणायाम से साध्य सिद्धान्तों को भी इन लौकिक न्यायों के आश्रय से अति सहजतया ही सरल बनाकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, जिससे विषय अति सारल्येन अधिगत हो जाता है। आइए अब कुछ उदाहरणों पर विस्तार से विचार करें।

1. **आम्र-सेक-पितृ-तर्पण न्याय/काकाक्षि-गोलक न्याय/देहली-दीपक न्याय/एका क्रिया द्वयर्थकरी न्याय-** महाभाष्यकार पतंजलि द्वारा **वर्णोपदेश**[55] के प्रयोजन की चर्चा के प्रसंग में पूर्वपक्षी द्वारा कहा गया कि यदि अकारादि वर्णोपदेश इष्टबुद्धि के लिये है तो उदात्त आदि स्वरों का भी उपदेश करना चाहिये, वह यदि आकृति-उपदेश से सिद्ध होगा तो संवृत आदि दोषों का प्रतिषेध भी करना होगा, इस पर यह कहा जाता है कि अकारादि वर्णों के **गर्गादि**[56]-**विदादि**[57] गण पठित होने से ही उपर्युक्त दोषों का निराकरण हो जाता है। एक ही यत्न से ये दोनों प्रयोजन कैसे सिद्ध होंगे? इसी समस्या का निराकरण प्रकृत न्याय से सहजतया हो जाता है।

आम्राश्च सिक्ता: पितरश्च प्रीणिता:[58] अर्थात् जैसे जल डालना रूपी एक ही क्रिया से आम के पेड भी सिंचित हो जाते हैं एवं पितर गण भी तृप्त हो जाते हैं, वैसे ही उपर्युक्त दोनों प्रयोजन ही एक ही यत्न से सिद्ध हो जायेंगे।

इसी न्याय के **देहली-दीपक न्याय** आदि अन्य अनेक नाम भी हैं।हिन्दी में प्रचलित **एक पंथ दो काज** एवं **एक तीर से दो निशाने** आदि प्रचलित कहावत इसी न्याय के अनुवाद मात्र प्रतीत होते हैं।

2. **मृग-तृष्णा न्याय/वस्त्रान्तर्हित न्याय-** महाभाष्य कार पतंजलि **स्त्रियाम्**[59] सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इस न्याय की चर्चा करते **हुये** पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि जब स्तन-केश वती स्त्री कहलाती है और लोमवान् पुरुष, तो इस आधार पर खट्वा तथा वृक्ष में कोइ लिंग तो है ही नही, फिर असत् एवं अविद्यमान लिंग का अन्वाख्यान कैसे किया जा सकता है?

इस समस्या के समाधान रूप भाष्यकार ने प्रस्तुत न्याय का प्रयोग किया है, कि जैसे मृग को चमकती हुई रेत में अविद्यमान ही जल दिखाई पडता है, वैसे ही वक्ता की बुद्धि में स्थित खट्वा और वृक्ष में भी अविद्यमान लिंग दिखायी पडता है- **असत्तु खट्वावृक्षयोर्लिंगं द्रष्टव्यम्, कथं पुनरसन्नाम लिंगं शक्यं द्रष्टुम्? मृगतृष्णावत्।तद्यथा- मृगास्तृषिता: अपां**

---

50 महा॰ सू॰ सं. 1/1/59
51 महा॰ सू॰ सं. 1/1/19
52 महा॰ सू॰ सं. 1/1/72
53 पा. अष्टा. 1.4.56
54 महा॰ भा. 2, पृ. 281
55 महाभाष्य, पस्पशाह्निक
56 गर्गादिभ्यो यञ । पा. अष्टा. 04.01.105
57 अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्यो यञ । पा. अष्टा. 04.01.104
58 महा.भा.1,पृ.84
59 पा. अष्टा. 4.01.03

जलधारा: पश्यन्ति, न ता: सन्ति[60]। अर्थात जैसे ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप में चमकती हुई रेत में मृग को भ्रम के कारण अविद्यमान जल भी दिखायी पडने लगता और जैसे ही हरिण अपनी प्यास बुझाने के लिये उस स्थान पर पहुंचता है, उसे रेत ही दिखायी पडती है, आगे से आगे यही क्रम चलता रहता है और अन्ततः उसे पानी नहीं मिलता। क्योंकि जल तो वहां विद्यमान है ही नहीं, वस्तुतः असत/अविद्यमान जल की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस प्रकार के प्रसंगों में ही इस न्याय का प्रयोग होता है। भ्रम- वश रस्सी में सर्प की प्रतीति होना आदि अनेक प्रसंग इसी न्याय के अनुवाद मात्र ही प्रतीत होते हैं।

3. **फलव्यतिरेक न्याय-** शब्द के ज्ञान-अज्ञान से धर्म-अधर्म की चर्चा के प्रसंग में शब्द के प्रयोग में धर्म होने की बात कहने पर पूर्वपक्षी ने कहा- यदि प्रयोग में धर्म अर्थात पुण्य माने, तब तो वैयाकरण और अवैयाकरण सभी धर्म से युक्त हो जायेंगे, ऐसी स्थिति में शब्द को जानने के लिये वैयाकरण का परिश्रम तो निरर्थक/व्यर्थ हो जायेगा? इस परिस्थिति में महर्षि पतंजलि इस न्याय का प्रयोग करते हुये कहते हैं- **व्यतिरेकोपि वै लक्ष्यते दृश्यते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणाः, अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः[61]।** अर्थात लोक में अनेक बार फल-व्यतिरेक भी दिखाई पडता है। प्रयत्न करने वाले अप्रवीण(अकुशल) और प्रयत्न न करने वाले प्रवीण(कुशल) भी दिखाई पडते हैं।

लोक में इस प्रकार के अनेक उदाहारण देखने को मिलते हैं जिनमें फल का उचित रूप में न प्राप्त होना अथवा अनुचित रूप में प्राप्त होना आदि विभिन्न परिस्थितियां दृष्टिगत होती हैं।

4. **गोयूथ-न्याय-** अधिकार सूत्रों के प्रवर्तन के क्रम इस न्याय क प्रयोग महर्षि पतंजलि ने किया है। पूर्वपक्षी द्वारा यह शंका की जाती है कि **तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि[62], तेन निर्वृत्तम्[63], तस्य निवासः[64], अदूरभवश्च[65]** इन चार सूत्रों का अधिकार एक साथ कैसे प्रवृत्त हो सकता है? इस समस्या का समाधान करते हुये महर्षि कहते हैं- **गोयूथमेकदण्डप्रघट्टितं सर्वं समं घोषं गच्छति[66]।** अर्थात जैसे एक लाठी से हांका हुआ गोयूथ एक साथ ही घर चला जाता है, वैसे ही यद्यपि ये चारों चातुरर्थिक सूत्र अलग अलग हैं, फिर भी अलग अलग सूत्रों से विहित ये अधिकार एक ही साथ अग्रिम सूत्रों में जायेंगे। इस प्रकार इस शास्त्रीय समस्या का समधान इस सरल न्याय से सहजतया ही हो जाता है।

5. **प्रकृति-विकृति न्याय-** प्रकृत न्याय के माध्यम से भाष्यकार ने बताया कि जो वर्ण जिस वर्ण का अन्तरतम वह वर्ण उसी को प्राप्त करेगा, किसी अन्य को नहीं। जैसे यद्यपि= यदि+अपि इस शब्द में पूर्व पदस्थ यकार इकार का ही विकार है और इसी क अन्तरतम भी, इसलिये जब यकार अपने विकृत रूप को छोडकर प्रकृति रूप में जाता है तो वह इ को ही प्राप्त होता है, अर्थात अपने प्रकृति रूप में ही विलीन होता है। इस प्रसंग में भाष्यकार कहते हैं- **लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति। पृथिवी-विकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। ज्योतिषो विकारो**

60 महा॰ भा. 4, पृ. 18
61 महा॰ भा. 1, पृ. 73
62 पा. अष्टा. 4.02.67
63 पा. अष्टा. 4.02.68
64 पा. अष्टा. 4.02.69
65 पा. अष्टा. 4.02.70
66 महा॰ भा. 4, पृ. 180

अर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग्गच्छति नार्वागवरोहति। ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यत:[67]। अर्थात वेग से फेंक गया पृथ्वी का विकार रूप मिट्टी का ढेला, न तो तिरछा जाता है और ना ही ऊपर जाता है पृथ्वी का विकार है, इसलिये वह पुन: पृथ्वी में ही जाकर मिल जाता है, उसी में विलीन हो जाता है। वैसे ही सूर्य का विकार- रूप दीपक का प्रकाश शून्य में प्रज्वलित होता हुआ भी न तो तिरछा या नीचे कि ओर प्रकाशित होता है, सूर्य का विकार होने के कारण अन्तत: सूर्य में ही विलीन होता है। प्रतिदिन के व्यवहार में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

6. **सन्नियोग-शिष्ट न्याय- पूतक्रतोरै च**[68] सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इस न्याय का प्रयोग किया गया है।**पंचेन्द्राण्यो देवता अस्य स पंचेन्द्र:**, यहां देवता अर्थ में **सास्य देवता**[69] सूत्र से अण प्रत्यय हुआ, तद्धितार्थ में द्विगु समास होने पर अण प्रत्यय का **द्विगोर्लुगनपत्ये**[70] सूत्र से लुक हो जाता है। तत्पश्चात **लुक तद्धितलुकि**[71] सूत्र से इन्द्राणी शब्दस्थ स्त्री प्रत्यय ङीष का भी लुक हो जाता है।

यहां यह ध्यातव्य है कि इन्द्राणी शब्द में आनुक आगम एवं ङीष प्रत्यय का विधान साथ साथ ही **इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-हिमारण्य-यव-यवन-मतुलाचार्याणामानुक**[72]**।** सूत्र से होता है, अर्थात ये दोनों सन्नियोग-शिष्ट हैं और इस प्रकार सहविधान होने के कारण **सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभाव:। तद्यथा- देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कर्तव्यम। देवदत्तापाये यज्ञदत्तोऽपि न करोति**[73]**।।** प्रमाण से प्रवृत्ति व निवृत्ति अर्थात विधान एवं लुक दोनों साथ साथ ही होंगे, अलग अलग नहीं। इस प्रमाण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि- सन्नियोग= साथ-साथ, शिष्ट= कथन या विधान, अर्थात जो विधान या निषेध साथ साथ किये जाते हैं, उनमें से किसी एक की निवृत्ति या हट जाने पर दोनों का ही निवर्तन हो जाता है। यथा-किसी ने कहा कि यह कार्य देवदत्त एवं यज्ञदत्त दोनों करेंगे, उस स्थिति में यदि देवदत्त कहीं चला जाये तो यज्ञदत्त भी उस कार्य को नहीं करता, यही सन्नियोग-शिष्ट है।

यहां प्रकृत उदाहरण में भी चूंकि ङीष प्रत्यय और आनुक आगम साथ साथ ही कहे गये हैं, इसलिये प्रकृत न्याय के आधार पर **लुक तद्धितलुकि**[74] सूत्र से ङीष का लुक होने पर आनुक का भी स्वत: लुक हो जाता है एवं **पंचेन्द्र** रूप सिद्ध हो जाता है। लोक में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

7. **तीर्थकाका न चिरं स्थातारो भवन्ति- ध्वांक्षेण क्षेपे**[75] सूत्र के क्षेप शब्द की व्याख्या करते हुये महर्षि पतंजलि ने इस न्याय का प्रयोग किया है। लोक में जहां श्राद्ध आदि कर्म किये जाते हैं, उस विशेष स्थान को तीर्थ-स्थान कहा जाता है।

---

67 महा॰ भा. 1, पृ. 421

68 पा. अष्टा. 4.01.36

69 पा. अष्टा. 4.02.24

70 पा. अष्टा. 4.01.88

71 पा. अष्टा. 1.02.49

72 पा. अष्टा. 4.01.49

73 महा॰ भा. 4, पृ. 61

74 पा. अष्टा. 1.02.49

75 पा. अष्टा. 2.01.04

उस तीर्थ स्थान में कौए बहुत देर तक नहीं ठहरते, अक्षत आदि से उदर–पूर्ति होते ही निकल जाते हैं, उन्हें ही तीर्थ–काक कहा जाता है। लोक में जो कोई मनुष्य भी इस प्रकार क व्यवहार करे उसे भी निन्दा–स्वरूप तीर्थ–काक या तीर्थ–ध्वांक्ष कहा जाता है। इसी न्याय का आश्रय कर महर्षि पतंजलि कहते हैं– **यथा तीर्थकाका न चिरं स्थातारो भवन्ति एवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति, स उच्यते तीर्थ-काक इति**[76]**।** अर्थात् जो व्यक्ति गुरुकुल आदि में जाकर भी आलस्य–प्रमाद या स्वार्थ वश विद्याध्ययन व तप–साधना आदि में प्रवृत्त ना होकर एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करता रहे वह ब्रह्मचारी या विद्यार्थी भी **तीर्थ-काक** के समान व्यवहार वाला होने के कारण निन्दा–स्वरूप **तीर्थ-काक** या **तीर्थ-ध्वांक्ष** ही कहलाता है।

8. **न हि भिक्षुका: सन्ति इति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते/ न च मृगा: सन्तीति यवा नोप्यन्ते-** इस न्याय का प्रयोग महभाष्यकार ने **कृन्मेजन्त:**[77] सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में किया है। वहां **सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य**[78]**।** इस परिभाषा के कुछ प्रयोजनों की चर्चा की गयी है, साथ ही साथ कुछ दोषों की भी चर्चा की गई है। इस पर पूर्वपक्षी ने प्रश्न किया ऐसी परिभाषा का क्या लाभ जो दोषयुक्त हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये महभाष्यकार कहते हैं– **न हि दोषा: सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्, न हि भिक्षुका: सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। न च मृगा: सन्तीति यवा नोप्यन्ते। दोषा: खल्वपि साकल्येन परिगणिता:। प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम। कुत एतत्? न हि दोषाणां लक्षणमस्ति। तस्माद् यान्येतस्या: परिभाषाया: प्रयोजनानि तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या। प्रतिविधेयं च दोषेषु**[79]**।** अर्थात् यदि दोष है, ऐसा मानकर परिभाषा या लक्षण ही ना बनाये जायें ऐसा नहीं है, परिभाषा या लक्षण बनाते ही हैं। घर में भिखारी आने की बात सोच कर गृहस्थी लोग खाना ना बनाने की बात कभी नहीं सोचते। मृग फसल को खराब कर देंगे ऐसा सोच कर फसल लगाई ही ना जाये, ऐसा नहीं सोचा जाता, मृगों का भी प्रबन्ध कर ही लिया जाता है।

इस प्रकार प्रकृत लोक न्याय के साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र में विविध प्रकार की व्यवस्थाओं के लिये परिभाषा या लक्षण तो बनाये ही जाने चाहिये, दोष के डर से परिभाषा प्रवर्तन से पीछे नही हटना चाहिये,दोषों का समाधान यदि हो सकता है तो कर देना चाहिये और परिभाषा के जो प्रयोजन है उसके लिये परिभाषायें अवश्य बनानी चाहिये, क्योंकि दोष तो हट भी जाते हैं, जैसे काव्य में कुछ दोष वक्ता आदि के औचित्य के कारण कहीं गुण बन जाते हैं, कहीं दोष नहीं दोष नहीं रहते और कहीं न दोष न गुण कुछ भी नहीं बनते[80]।

9. **न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति न्याय-** प्रस्तुत न्याय का प्रयोग महाभाष्यकार ने **बहुगणवतुडति संख्या**[81] सूत्र के संख्या शब्द के विचार के क्रम में किया है। वस्तुत: इस सूत्र में प्रयुक्त संख्या शब्द संज्ञा अर्थ में है और **ष्णान्ता षट्**[82]

---

76 महा॰ भा. 2, पृ. 383

77 पा. अष्टा. 01.01.38

78 महा. भा. 01, सू.1.1.39, पृ. 97

79 महा॰ सू. 7.01.23

80 ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टताऽनुकरणे तु सर्वेषाम्।
वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुण: क्वचित् क्वचिन्नोभौ।। काव्य प्रकाश, उल्लास–07, कारिका–59

81 पा. अष्टा. 01.01.22

82 पा. अष्टा. 01.01.23

सूत्र में संज्ञी अर्थ में इस पर पूर्वपक्षी ने कहा कि संख्या शब्द ही अनुवर्तन मात्र से एक स्थान पर संज्ञा और दूसरे स्थान पर संज्ञी अर्थ में कैसे प्रयुक्त हो सकता है? क्योंकि गोधा सर्प का अनुकरण करने मात्र से ही सर्प कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती।

पूर्वपक्षी यहां अपने मत की पुष्टि हेतु इस लौकिक न्याय को उद्धृत करते हुये कहता है–**यदप्युच्यते- न खल्वप्यन्यद् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति। न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति इति[83]।** अर्थात जैसे यह कहा जाता है कि अन्य प्रकृत वस्तु अनुवृत्ति मात्र से अन्य नहीं हो सकती, जैसे यदि गोह सरकना शुरु करे तो सरकने मात्र से वह सांप नहीं हो सकती। इस का उत्तर भाष्यकार ने यूं दिया है– **भवेद् द्रवेष्वेतदेवं स्यात्, शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाभिसम्बध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति[84]**। अर्थात यद्यपि लौकिक वस्तुओं के प्रसंग में इस न्याय के अनुसार व्यवहार संभव है कि एक वस्तु अनुवृत्ति मात्र से अन्य नहीं हो सकती परन्तु शब्दों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। शब्द तो जिस जिस विशेष अर्थ के साथ सम्बद्ध होता है, उसी उसी का विशेषक होता जाता है। इस प्रकार संख्या शब्द जब अग्रिम सूत्र **ष्णान्ता षट्[85]** में जायेगा वहां अर्थपरक संज्ञी बन कर प्रयोजन सिद्ध कर देगा।

10. **धूमाग्नि-न्याय-** प्रकृत न्याय का प्रयोग महाभाष्यकार ने **लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे[86]** सूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में किया है। यहां पूर्वपक्षी ने शंका करते हुये कहता है कि लट् के अप्रथमान्त के साथ समानाधिकरण्य के समान लङ् का भी समानाधिकरण्य क्यों नहीं होता? इस के उत्तर में महाभाष्यकार इस न्याय का आश्रय करके कहते हैं– **आदेशेन समानाधिकरण्यं दृष्ट्वाऽनुमानाद् गन्तव्यं प्रकृतेरपि समानाधिकरण्यं भवति। तद्यथा धूमं दृष्ट्वा अग्निरत्रेति गम्यते[87]।**

अर्थात चूंकि शतृ–शानच प्रत्ययान्त प्रयोग सदा ही वर्तमान काल में ही दिखाई पडते हैं, अप्रथमान्त शतृ–शानच सदा लट् के स्थान में ही प्रयुक्त होते हैं तथा इस प्रत्ययान्तों के प्रयोगों में सदा अप्रथमान्त के साथ समानाधिकरण्य भी दिखाई देता है, इसलिये इस न्याय से जैसे धूम्र को देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है, वैसे यहां भी इन प्रत्ययों को देखकर इन के स्थानी लट् में भी अप्रथमान्त के साथ समानाधिकरण्य का अनुमान कर लिया जाता है।

इस प्रकार इन सभी स्थलों के सूक्ष्म विवेचन व प्रमुख व्याकरणशास्त्रों में विवेचित इन सभी व इस प्रकार के अनेक उदाहरणों, प्रयोगों, प्रमाणों व वाक्यों से भी व्याकरण शास्त्र में लोकश्रय के महत्व की पदे पदे पुष्टि होती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनीय व्याकरण की एतावत सफलता व अतिशय ग्राह्यता का प्रमुख कारण लोकाश्रय ही है।

सहायक/संदर्भ-ग्रन्थ-सूची-

1. पारिभाषिकः, आचार्य प्रद्युम्नः, राम लाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरियाणा, 2014
2. व्याकरणशास्त्रीय लोकन्याय रत्नाकर, डा. भीमसिंह वेदलंकार, पेनमेन पब्लिशर्स, शक्ति नगर, दिल्ली–7
3. पाणिनीय अष्टाध्यायी, राम लाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरियाणा, 2018

---

83 महा॰ भा. 1, पृ. 308

84महा॰ भा. 1, पृ. 308

85 पा. अष्टा. 01.01.22

86 पा. अष्टा. 03.02.124

87 महा॰ भा. 3, पृ. 199

4. पाणिनीय शब्दानुशासनम्, सत्यानन्दवेदवागीशः, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सडक, दिल्ली–110006, वि. सं. 2060
5. महाभाष्य, पतंजलि, (प्रदीप–कैयट) गुरुकुल झज्जर, हरियाणा, वि. सं. 2020
6. काशिका, वामन–जयादित्य, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, 1954
7. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी–1
8. वाक्यपदीयम्, द भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, वि. सं 2066
9. पाणिनीय शिक्षा, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली–11007, 2005
10. पारिभाषिक, (हिन्दी व्याख्या) स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार मण्डल, नई दिल्ली,1998
11. पतंजलिकालीन भारत, डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बिहार राष्ट्रभाषा, पटना, 1963
12. पाणिनि : ए सर्वे आफ रिसर्च, जार्ज कार्डोना, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1980
13. व्याकरणशास्त्रे लौकिकन्यायानामुपयोगः, रामकिशोर शुक्ल, संपूर्णा. सं. विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1992
14. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, (भाग–1–3) पं. युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ, सोनीपत, सं 2030